



(Shodh Samay International Journal of Multidisciplinary Research)

(Openly Accessible, Peer-Reviewed & Refereed Journal)

साहित्य और सिनेमा का अंतर्संबंध

राहुल वर्मा

शोधार्थी, हिंदी विभाग,

हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद

7557314948

rv567894321@gmail.com

शोध-सार-

प्रस्तुत शोध आलेख के अंतर्गत यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि साहित्य और सिनेमा एक-दूसरे के पूरक हैं। साहित्य समाज की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है, तो वहीं सिनेमा समाज को अभिव्यक्त और प्रभावित करने वाला प्रभावशाली माध्यम है। साहित्य और सिनेमा ने प्रारंभ से ही समाज के साथ अपना संबंध स्थापित किया है। साहित्य को सिनेमा से और सिनेमा को साहित्य से अलग करके नहीं देखा जा सकता। साहित्यकारों और फ़िल्म निर्देशकों ने अपनी प्रारंभिक यात्रा के दौरान भी समाज को आईना दिखाने का काम किया है। समाज में व्याप्त कुरीतियों और कुप्रथाओं से साहित्यकारों व फ़िल्म निर्देशकों ने अपने-अपने तरीकों से समाज को अवगत कराया तथा व्यावहारिक शिक्षा एवं ज्ञान देने का कार्य भी किया। सिनेमा ने समाज के दुःखी, पीड़ित और संत्रास से भरे लोगों के मन को प्रफुल्लित कर उनके चेहरे पर मुस्कान लाने का कार्य किया है; वहीं दूसरी ओर, साहित्य ने पाठक वर्ग को जीवन में आगे बढ़ने की प्रेरणा और उत्साह प्रदान किया है। साहित्य और सिनेमा कला की दो अलग-अलग विधाएँ भले ही हों, लेकिन दोनों के केंद्र में सदैव समाज ही रहा है। कला की इन दोनों विधाओं ने अपने-अपने माध्यम से आम आदमी के दुःख-दर्द, पीड़ा एवं समस्याओं को अभिव्यक्ति दी है। जहाँ साहित्य ने इसे शब्दों में पिरोया, वहीं सिनेमा ने अपनी काल्पनिक दूरदृष्टि से अनसुलझी सामाजिक समस्याओं को हल कर आनंद की अनुभूति कराने का प्रयास किया है। समाज में ऐसा भी देखा गया है कि लोगों ने साहित्य और सिनेमा से प्रेरणा लेकर व्यवस्था के अत्याचार एवं अराजकता के खिलाफ़ आंदोलन किए हैं, तो दूसरी ओर इनसे शिक्षा लेकर राष्ट्र-निर्माण में अपना अमूल्य योगदान भी दिया है। इससे समय-समय पर समाज का मार्गदर्शन हुआ है और हमें इनकी महत्ता एवं महानता का बोध हुआ है।

बीज शब्द- साहित्य, सिनेमा, कला, अंतर्संबंध, पटकथा, कल्पना, विधा, दृष्टि, कथानक

साहित्य और सिनेमा का अटूट संबंध है। सिनेमा का आरंभ साहित्य से ही होता है, भले ही कई आलोचक या लेखक इस बात को स्वीकार न करते हों। यह कहना सर्वथा उचित होगा कि साहित्य और सिनेमा एक-दूसरे के विचारों को विस्तृत करने एवं लोगों तक पहुँचाने में परस्पर योगदान देते हैं। यदि यह कहा जाए कि



(Shodh Samay International Journal of Multidisciplinary Research)

(Openly Accessible, Peer-Reviewed & Refereed Journal)

"सिनेमा ने साहित्य को आमजन तक पहुँचाया है और सिनेमा का पर्दा समाज के हर व्यक्ति तक पहुँचने का ज़रिया है", तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।¹

सिनेमा का साहित्य से गहरा संबंध होने के कारण साहित्य की तमाम विधाएँ—कहानी, उपन्यास, नाटक, जीवनी, आत्मकथा, यात्रा-वृत्तांत आदि—फ़िल्मों में रूपांतरित होकर समाज के सामने प्रस्तुत हो रही हैं। साहित्य को पढ़ने से सहृदयता की अनुभूति होती है; वहीं सिनेमा देखने पर वही सहृदयता रूप-रंग, छवि, हाव-भाव, चाल-ढाल, रहन-सहन व वेशभूषा के माध्यम से हमारे सामने साकार होकर जीवंत रूप धारण कर लेती है।

साहित्य और सिनेमा कला के दो ऐसे क्षेत्र हैं, जिन्होंने परस्पर हाथ मिलाकर एक-दूसरे को सशक्त करने का कार्य किया है। साहित्य ने सिनेमा की नींव तैयार की है, तो सिनेमा ने उसी पर विचारों के भव्य महल का निर्माण किया है। फ़िल्मकार केतन मेहता ने सिनेमा की सामाजिक भूमिका पर प्रकाश डालते हुए कहा है:

"सिनेमा ने समाज को दोनों तरह से प्रभावित किया है। इसने लोगों को देखने और सोचने के लिए बाध्य किया है। सिनेमा समाज की बहुत बड़ी शक्ति है। परिवर्तन लगातार चलने वाली प्रक्रिया है और उसमें सिनेमा अपनी भागीदारी निभाता है। उसकी भागीदारी किस हद तक होती है, यह निर्भर करता है समाज में परिवर्तन की गति पर। व्यवस्था को बदलते रहना चाहिए। जब भी कोई व्यवस्था स्थायी हो जाती है, वह बिगड़ने लगती है। कोई भी व्यवस्था हो, वह अनिवार्य रूप से आम लोगों के लिए काम नहीं करती; इसलिए किसी भी व्यवस्था को ज्यों का त्यों स्वीकार करने के बजाय प्रश्न उठाना चाहिए। सिनेमा यही काम करता है, यही उसकी भागीदारी है।"²

सिनेमा की प्रभावकारिता के संदर्भ में विजय अग्रवाल ने अपनी पुस्तक 'सिनेमा और समाज' में लिखा है:

"साहित्य, सिनेमा के सामने एक आदर्श प्रस्तुत कर सकता है, उसके वास्तविक यथार्थ पर असर डाल सकता है तथा उसके उदात्त प्रभावों की संरचना के लिए प्रेरित कर सकता है। किसी भी कथानक के समीकरण का आयाम इतना विस्तृत होता है कि उसमें न केवल उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध और कविता की कथावस्तु समाहित हो सकती है, बल्कि साहित्यिक विधाओं के कला-रूप जैसे भाषा, अलंकार-योजना एवं प्रतीक को भी बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है। इसी प्रकार फ़िल्म चंद लोगों की अलमारियों में कैद साहित्य की पहुँच को बढ़ा सकती है।"³

साहित्य और सिनेमा का अंतर्संबंध सिनेमा के इतिहास में मूक फ़िल्मों के युग से ही प्रारंभ हो गया था। सिनेमा के शैशव काल में अमेरिकी फ़िल्म निर्देशक, लेखक और निर्माता डी.डब्ल्यू. ग्रिफ़िथ ने सन् 1915 में थॉमस डिक्सन के उपन्यास 'द क्लैसमैन' पर आधारित अपनी पहली फ़िल्म 'द बर्थ ऑफ़ ए नेशन' बनाई थी। इस फ़िल्म में ग्रिफ़िथ ने एक परिवार के उन अनुभवों को व्यक्त किया है, जिन्हें उसने गृहयुद्ध के समय भोगा था। यद्यपि



(Shodh Samay International Journal of Multidisciplinary Research)

(Openly Accessible, Peer-Reviewed & Refereed Journal)

यह उपन्यास उत्कृष्ट कोटि का नहीं माना जाता, किंतु ग्रिफ़िथ ने अपनी रचनात्मक कला से इसे विश्व सिनेमा की श्रेष्ठ फ़िल्मों में रूपांतरित कर दिया। उस समय से लेकर आज तक यह फ़िल्म अपना विशेष स्थान बनाए हुए है। इसके अतिरिक्त ग्रिफ़िथ की 'इंटोलरेंस' (1916), 'ब्रोकन ब्लॉसम्स' (1919), 'वे डाउन ईस्ट' (1920) और 'ऑफ़र्स ऑफ़ द स्टॉर्म' (1921) जैसी फ़िल्मों को काफ़ी प्रशंसा एवं ख्याति प्राप्त हुई। उन्होंने अपने समय में लगभग 500 से अधिक लघु एवं पूर्ण-लंबाई (Full-length) फ़िल्मों का निर्माण किया। 1931 में बनी 'द स्ट्रगल' उनकी अंतिम फ़िल्म थी।

भारतीय सिनेमा ने भी 100 से अधिक वर्षों का सफ़र पूरा कर लिया है। इस सफ़र की शुरुआत करने वाले दादा साहब फाल्के से कौन परिचित नहीं है! दादा साहब ने अपने 19 साल के लंबे करियर में कुल 15 पूर्ण फ़िल्में और 27 लघु फ़िल्में बनाईं। उन्होंने अपनी पहली मूक फ़िल्म 1913 ई. में 'राजा हरिश्चंद्र' बनाई, जो मुंबई के कोरोनेशन थिएटर में 3 मई 1913 को पहली बार प्रदर्शित की गई।

इसके उपरांत दादा साहब ने पौराणिक फ़िल्मों के रूप में 'मोहिनी भस्मासुर' (1913), 'सत्यवान सावित्री' (1914), 'लंका दहन' (1917), 'श्रीकृष्ण जन्म' (1918), 'कालिया मर्दन' (1919), 'बुद्धदेव' (1923), 'भक्त प्रह्लाद' (1926), 'भक्त सुदामा' (1927), 'रुक्मिणी हरण' (1927), 'द्रौपदी वस्त्रहरण' (1927), 'नल दमयंती' (1927), 'परशुराम' (1928), 'काचा देवयानी' (1929), 'चंद्रहास' (1929), 'मालती माधव' (1929), 'मालविकाग्निमित्र' (1929), 'वसंतसेना' (1929) आदि फ़िल्मों का निर्माण किया।

किंतु इन फ़िल्मों की सीमा यह थी कि ये मूक फ़िल्में थीं। सन् 1931 में निर्देशक अर्देशिर ईरानी ने 'आलम आरा' नाम से प्रथम सवाक (बोलती) फ़िल्म प्रस्तुत की। इसके बाद दादा साहब फाल्के द्वारा निर्देशित पहली बोलती फ़िल्म 'गंगावतरण' (1937) आई।

सन् 1931 में प्रदर्शित 'आलम आरा' फ़िल्म को जनता ने बहुत पसंद किया, जिससे सिनेमा में तेज़ी से बदलाव आया। हिंदी सिनेमा की शुरुआत पौराणिक फ़िल्मों के साथ हुई, जिनमें 'भक्त प्रह्लाद', 'शिव महिमा', 'विष्णु अवतार' जैसी फ़िल्में चर्चित रहीं। इसके बाद जनता का रुझान पौराणिक कथाओं से हटकर सामाजिक समस्याओं पर केंद्रित होने लगा, जिसके परिणाम स्वरूप सामाजिक फ़िल्में बनने लगीं। इनमें 'जुगनू', 'मंथन', 'ज्वार भाटा', 'खानदान', 'नौकर', 'क्रिस्मत', 'ज़मीन' आदि फ़िल्मों ने महत्वपूर्ण स्थान बनाया। उस दौर में सामाजिक और ऐतिहासिक फ़िल्में समानांतर रूप से निर्मित हो रही थीं।

तत्पश्चात् हिंदी सिनेमा में रोमानी दौर का प्रारंभ हुआ, जिसमें 'शोले', 'सनम', 'हसीना मान जाएगी', 'हम आपके हैं कौन', 'विवाह', 'कभी हाँ कभी ना', 'हम दिल दे चुके सनम', 'कभी खुशी कभी ग़म' जैसी फ़िल्मों का निर्माण हुआ। पिछले दो-तीन दशकों से ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं विभिन्न विमर्शों पर आधारित फ़िल्में बन रही हैं, जो समाज पर गहरा प्रभाव डाल रही हैं।



(Shodh Samay International Journal of Multidisciplinary Research)

(Openly Accessible, Peer-Reviewed & Refereed Journal)

अनेक हिंदी साहित्यकारों ने सिनेमा जगत में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। साहित्य जगत के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार एवं कहानीकार मुंशी प्रेमचंद भी फ़िल्मी दुनिया से अछूते नहीं रहे। सन् 1933 में प्रेमचंद जी ने मुंबई आकर फ़िल्मों के लिए कथा-लेखन शुरू किया था। उनकी कहानी पर मोहन भवनानी के निर्देशन में 'मिल मज़दूर' फ़िल्म का निर्माण हुआ। सन् 1934 में उनके उपन्यास 'सेवासदन' पर 'नवजीवन' फ़िल्म बनी, किंतु यह पर्दे पर अधिक समय तक न टिक सकी।

प्रेमचंद के अतिरिक्त उपेंद्रनाथ अशक व भगवतीचरण वर्मा भी फ़िल्मों के लिए लिखते रहे, किंतु भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'चित्रलेखा' पर आधारित फ़िल्म के अलावा अन्य फ़िल्में विशेष सफल नहीं हो सकीं। साहित्य पर आधारित फ़िल्मों के व्यावसायिक रूप से असफल होने के कारण निर्माता-निर्देशक ऐसी फ़िल्में बनाने से कतराने लगे।

फिर भी कुछ निर्देशकों ने दृढ़ मनोबल के साथ साहित्यिक कृतियों पर फ़िल्में बनाईं। इस दौर में आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास पर 'धर्मपुत्र', चंद्रधर शर्मा गुलेरी की प्रसिद्ध कहानी पर 'उसने कहा था' और फणीश्वरनाथ रेणु की कहानी 'मारे गए गुलफ़ाम' पर 'तीसरी क्रसम' फ़िल्म बनी। यद्यपि 'तीसरी क्रसम' बॉक्स ऑफ़िस पर सफल नहीं रही, किंतु इसे राष्ट्रीय फ़िल्म पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

इसके अतिरिक्त राजेंद्र सिंह बेदी की रचना पर 'एक चादर मैली सी', भीष्म साहनी के उपन्यास पर 'तमस', धर्मवीर भारती के उपन्यासों पर 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' (निर्देशक: श्याम बेनेगल) तथा 'गुनाहों का देवता' पर फ़िल्में बनीं। कमलेश्वर की रचनाओं पर 'पति पत्नी और वो', 'डाक बंगला' और 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ' जैसी फ़िल्में बनीं।

कृष्णा सोबती के उपन्यास 'जिंदगीनामा' और खुशवंत सिंह की रचना पर 'ट्रेन टू पाकिस्तान' फ़िल्म बनी। यशपाल के उपन्यास 'झूठा सच' के संदर्भों तथा समकालीन त्रासदियों को समेटते हुए 'खामोश पानी' फ़िल्म सबीहा सुमेर ने बनाई। अमृता प्रीतम की रचनाओं पर आधारित 'ग़दर: एक प्रेम कथा' एवं 'पिंजर' फ़िल्मों का निर्माण हुआ। मन्नू भंडारी के उपन्यास 'आपका बंटी' पर 'स्वामी' तथा राजेंद्र यादव व मन्नू भंडारी के संयुक्त उपन्यास 'एक इंच मुस्कान' व 'सारा आकाश' पर बासु चटर्जी ने फ़िल्म बनाई। काशीनाथ सिंह के उपन्यास 'काशी का अस्सी' पर डॉ. चंद्रप्रकाश द्विवेदी ने 'मोहल्ला अस्सी' बनाई। केशव प्रसाद मिश्र के उपन्यास 'कोहबर की शर्त' पर बनी फ़िल्म 'नदिया के पार' (निर्देशक: गोविंद मुनिस) ने सफलता के नए आयाम स्थापित किए।

सिनेमा में शुरू से ही साहित्य-आधारित फ़िल्मों का निर्माण होता रहा है—चाहे वह हिंदी साहित्य हो या भारत की अन्य भाषाओं का साहित्य। यहाँ तक कि विदेशी साहित्य पर आधारित फ़िल्में भी भारत में बनी हैं। जहाँ एक ओर शरतचंद्र, रवींद्रनाथ टैगोर, विमल मित्र, आर.के. नारायण और चेतन भगत जैसे लेखकों की रचनाओं पर फ़िल्में बनीं, वहीं दूसरी ओर शेक्सपियर और रस्किन बॉन्ड जैसे विदेशी साहित्यकारों की कृतियों को भी भारतीय



(Shodh Samay International Journal of Multidisciplinary Research)

(Openly Accessible, Peer-Reviewed & Refereed Journal)

सिनेमा में ढाला गया। विशाल भारद्वाज ने शेक्सपियर के नाटकों 'ऑथेलो' और 'मैकबेथ' पर क्रमशः 'ओमकारा' और 'मकबूल' जैसी उत्कृष्ट फिल्में बनाईं, तथा रस्किन बॉन्ड की कहानी 'सुसानाज सेवेन हसबैंड्स' पर 'सात खून माफ़' बनाई।

19वीं सदी से लेकर अब तक साहित्य और सिनेमा का संबंध किसी न किसी रूप में बना हुआ है। साहित्यिक रचनाओं को आधार बनाकर फ़िल्म बनाने की परंपरा आज भी यथावत है, किंतु दोनों विधाओं के स्वरूप में अंतर होने के कारण मतभेद भी उभरते रहे हैं। यह मतभेद प्रायः उन दर्शकों द्वारा व्यक्त किया जाता है, जो पहले मूल पुस्तक पढ़ चुके होते हैं। जब वे उस पर बनी फ़िल्म देखते हैं, तो अक्सर कहते हैं कि "फ़िल्म और उपन्यास में बहुत अंतर है।"

वास्तविकता यह है कि दर्शक फ़िल्म को एक स्वतंत्र कलाकृति के रूप में देखने के बजाय उसमें मूल साहित्यिक कृति को ढूँढ़ने लगते हैं। वे भूल जाते हैं कि कोई भी माध्यम दूसरे माध्यम की हूबहू अनुकृति नहीं हो सकता। प्रख्यात चिंतक वाल्टर बेंजामिन ने लिखा था:

*"किसी कलाकृति की सबसे अच्छी अनुकृति में भी कम से कम एक कमी तो रह ही जाती है। मूल कृति किसी खास काल तथा स्थान में स्थिर होती है; जहाँ तक उसकी यह स्थिति है, वह अनूठी है। उसका एक अनूठा अस्तित्व है, जिसकी हूबहू अनुकृति संभव नहीं है।"*⁴

हिंदी सिनेमा में साहित्यिक कृतियों पर कई फ़िल्में बनी हैं, किंतु अनेक लेखक अपनी रचनाओं पर बनी फ़िल्मों से संतुष्ट नहीं दिखाई देते। उन्हें लगता है कि फ़िल्म अपनी मूल रचना से भटक गई है। परंतु लेखक यह भूल जाते हैं कि साहित्य और फ़िल्म दो भिन्न कला-विधाएँ हैं। किसी लिखे हुए दृश्य को पढ़ना और उसी दृश्य को पर्दे पर देखना अलग-अलग अनुभव देता है। लेखक शब्द के माध्यम से अपनी संवेदना व्यक्त करता है, जबकि फ़िल्म की पटकथा तकनीकी, दृश्य-शैली और माध्यम की सीमाओं को ध्यान में रखकर लिखी जाती है।

साहित्य और सिनेमा में एक बड़ा अंतर समय के साथ उनके रिश्ते का है। पुस्तक पढ़ते समय पाठक अपनी इच्छा से रुक सकता है, किसी विचार पर ठहर सकता है और मनन कर सकता है। परंतु फ़िल्म की अपनी एक स्वाभाविक गति होती है, जो दर्शक को एक निश्चित प्रवाह में बहाकर ले जाती है।

एक अन्य मुख्य अंतर यह है कि साहित्यिक कृति को पढ़ते समय पाठक के मन में अपनी एक व्यक्तिगत काल्पनिक दुनिया निर्मित होती है। उदाहरण के लिए, प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान' को पढ़कर हर पाठक के मन में 'होरी' का एक अलग चित्र और उसके प्रति अलग अनुभूति बनती है। परंतु जब वही पाठक पर्दे पर 'गोदान' फ़िल्म देखता है, तो अभिनेता (राजकुमार) की छवि के रूप में होरी का चरित्र एक निश्चित रूप में बँध जाता है। फिर दर्शक उस निश्चित छवि से इतर कल्पना करने में स्वतंत्र नहीं रह जाता।

पुस्तक और फ़िल्म के इस अंतर पर डॉ. कुसुम अंसल कहती हैं:



(Shodh Samay International Journal of Multidisciplinary Research)

(Openly Accessible, Peer-Reviewed & Refereed Journal)

"पुस्तक और फ़िल्म दोनों के मध्य खड़े होकर मुझे लगा कि पुस्तक एक बंद दरवाज़ा है, जिसके पृष्ठ खोलने पर हाथ लगते हैं उनके दृश्य—जहाँ फूल खिल रहे हैं, सूर्य उग रहा है, चाँद आकाश में टँगा है; और फ़िल्म एक ऐसा द्वार है, जहाँ खोलने को कुछ नहीं है, सब कुछ आँखों के सामने घटित हो रहा है। उपन्यास पर बनी फ़िल्म कुछ ऐसी होती है कि झरने के ऊपर से कोई पत्थर हटा दे और झरना प्रपात बन जाए।"5

साहित्यिक फ़िल्मों में कई बार पात्रों का चयन भी एक महत्वपूर्ण मुद्दा बन जाता है। कहा जाता है कि "कई बार ग़लत पात्र-चयन से साहित्यिक फ़िल्मों की आत्मा मर जाती है।"6 'गोदान' फ़िल्म में राजकुमार जैसे अभिजात छवि वाले अभिनेता का 'होरी' जैसे अत्यंत निर्धन किसान के रूप में चयन कई आलोचकों को स्वाभाविक नहीं लगा।

इसके विपरीत, सही वातावरण और पात्र-चयन के कारण बंकिमचंद्र की कृति पर बनी 'आनंदमठ', विमल मित्र की रचना पर आधारित 'साहब बीबी और गुलाम', आर.के. नारायण के उपन्यास पर बनी 'गाइड', फ़कीर मोहन सेनापति की कहानी से प्रेरित 'दो बीघा ज़मीन' (जिस पर शैलेंद्र और बिमल रॉय ने काम किया) तथा मिर्जा हादी रुस्वा के उपन्यास पर बनी 'उमराव जान' अत्यंत सफल और यादगार फ़िल्में साबित हुईं।

साहित्य और सिनेमा में सबसे मूलभूत अंतर भाषा का है। साहित्यकार शब्दों के जादू से चमत्कार उत्पन्न करता है। वह बिंब, प्रतीक, अलंकार और छंद के माध्यम से पाठक की कल्पना को जाग्रत करता है। साहित्य का आस्वादन करने के लिए अक्षर-ज्ञान और भाषाई बोध अनिवार्य है। इसके विपरीत, सिनेमा एक दृश्य-माध्यम है। वह भाषाई सीमाओं को तोड़कर सीधे आँखों और कान के माध्यम से दर्शक से संवाद करता है। सिनेमा देखने के लिए निरक्षर व्यक्ति भी उतना ही सक्षम है जितना कि एक साक्षर व्यक्ति।

कैमरे की क्षमता पर विचार करते हुए वाल्टर बेंजामिन ने लिखा था:

"आसपास की वस्तुओं का क्लोज़-अप लेकर, जानी-पहचानी चीज़ों के अनजाने पक्षों को खोलकर, कैमरा जीवन का नए ढंग से उद्घाटन करता है... जिस तरह मनोविश्लेषण अचेतन संवेगों को सामने लाता है, उसी तरह कैमरा अचेतन दृष्टि-संपदा को सामने लाता है।"7

साहित्य और फ़िल्म की पटकथा में भी ज़मीन-आसमान का अंतर होता है। एक अच्छी फ़िल्म के लिए सशक्त पटकथा का होना अनिवार्य है। पटकथा के संदर्भ में असगर वजाहत ने अपनी पुस्तक 'पटकथा लेखन: व्यावहारिक निर्देशिका' में लिखा है:

"पटकथा, कथा का वह रूप है जिसके आधार पर निर्देशक बनाए जाने वाली फ़िल्म के भावी स्वरूप का अनुमान लगाता है।"8

फ़िल्मकार जब किसी साहित्यिक कृति पर काम करता है, तो वह उसके मूल भाव का अनुकरण करता है। इस संदर्भ में विनोद दास अपनी पुस्तक 'भारतीय सिनेमा का अंतःकरण' में लिखते हैं:

"फ़िल्मकार किसी उपन्यास या कहानी के मूल भाव का अनुकरण करता है। उसकी पूरी कोशिश होती है कि उस साहित्यिक कृति की कथा, जीवन-मूल्य और संवेदना को यथावत फ़िल्म की भाषा में अनूदित कर दिया जाए।"⁹

हालाँकि, एक कुशल फ़िल्मकार साहित्य को केवल एक कच्ची सामग्री के रूप में लेता है और उसमें अपनी जीवन-दृष्टि तथा समकालीन सरोकारों का समावेश करता है। उदाहरण के लिए, प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानी 'कफ़न' पर आधारित मृणाल सेन की तेलुगु फ़िल्म 'ओका ऊरी कथा' को देखा जा सकता है। जहाँ प्रेमचंद की कहानी में घीसू और माधव की कामचोरी और संवेदनहीनता मुख्य बिंदु है, वहीं मृणाल सेन ने फ़िल्म में उसे व्यवस्था और शोषक वर्ग के खिलाफ़ एक मौन विद्रोह और विरोध के रूप में पुनर्व्याख्यायित किया है।

इस संबंध में विनोद दास पुनः लिखते हैं:

"एक सिद्धहस्त फ़िल्मकार अपने जीवन-दर्शन को व्यक्त करने के लिए हिंदी साहित्य की एक क्लासिक कहानी में किस सीमा तक परिवर्तन करने का साहस करता है और एक सफल फ़िल्म बनाता है।"¹⁰

इसी प्रकार, बुद्धदेव दासगुप्ता ने समरेश बसु की कहानी पर 'उत्तरा' फ़िल्म बनाते समय उसमें उड़ीसा में पादरी स्टेन्स की हत्या की समकालीन वास्तविक घटना को पिरोकर फ़िल्म को नया सामाजिक-राजनीतिक आयाम प्रदान किया।

फ़िल्म निर्माण के केंद्र में वह निर्माता भी होता है, जो अपनी पूँजी लगाता है। व्यावसायिक हित जुड़े होने के कारण कई बार निर्माता के हस्तक्षेप से कथानक या फ़िल्म के स्वरूप में परिवर्तन करना पड़ता है। ऐतिहासिक रूप से हिंदी सिनेमा के शुरुआती दौर में अधिकांश निर्माता-निर्देशक गैर-हिंदी भाषी (मराठी, बंगाली, गुजराती, पारसी आदि) थे, फिर भी उन्होंने हिंदी भाषा और साहित्य को जन-जन तक पहुँचाने में अद्भुत योगदान दिया।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि साहित्य और सिनेमा कला एवं मनोरंजन के दो अत्यंत महत्वपूर्ण माध्यम हैं, जो प्रारंभ से ही समाज से गहरे जुड़े रहे हैं। साहित्यकार हो या फ़िल्म निर्देशक, दोनों इसी समाज में जन्म लेते हैं और समाज की परिस्थितियों से व्यथित या प्रेरित होकर अपनी रचना प्रस्तुत करते हैं। दोनों का मुख्य ध्येय सामाजिक हित और मानवीय संवेदनाओं की रक्षा करना है। साहित्य जहाँ पाठक को गहराई से सोचने की दिशा देता है, वहीं सिनेमा अपनी दृश्य-श्रव्य क्षमता से उस विचार को व्यापक जनसमूह तक पहुँचाने का कार्य करता है।

संदर्भ सूची-

1. चंद्रकांत मिसाल, *सिनेमा और साहित्य का अंतर्संबंध* (बिजनौर: हिंदी साहित्य निकेतन, 2006), पृष्ठ 24.

SSIJOMR

(Shodh Samay International Journal of Multidisciplinary Research)
(Openly Accessible, Peer-Reviewed & Refereed Journal)

2. मिसाल, सिनेमा और साहित्य का अंतर्संबंध, पृष्ठ 29.
3. मृत्युंजय, संपा., हिंदी सिनेमा का सच (नई दिल्ली: अनुज्ञा प्रकाशन), पृष्ठ 25.
4. विनोद दास, भारतीय सिनेमा का अंतःकरण (नई दिल्ली: मेधा बुक्स पब्लिकेशन, 2006), पृष्ठ 160.
5. विजय अग्रवाल, सिनेमा और समाज (आगरा: साहित्य प्रकाशन, 1993), पृष्ठ 130.
6. डॉ. कुसुम अंसल, "साहित्य, समाज और सिनेमा का त्रयी संबंध" (शोध आलेख).
7. दास, भारतीय सिनेमा का अंतःकरण, पृष्ठ 163.
8. असगर वजाहत, पटकथा लेखन व्यावहारिक निर्देशिका (नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2015), पृष्ठ 126.
9. दास, भारतीय सिनेमा का अंतःकरण, पृष्ठ 164.
10. दास, भारतीय सिनेमा का अंतःकरण, पृष्ठ 166.